समकालीन हिंदी कविता में पर्यावरण चेतना

डॉ. आर.पी. वर्मा
असि. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
इन्दिरा गॉंधी राजकीय महिलामहाविद्यालय,
रायबरेली, उ.प्र

समकालीन साहित्य वही कहा जा सकता है, जिसमें समसामयिक परिवेश बखूबी अपने हर अंदाज से अपनी उपस्थिति दर्ज करता हुआ नजर आये। समकालीन समाज को आज कई मुद्दों से जूझना पड़ रहा है। आज एक तरफ वैश्वीकरण का साया समाज को अपने आगोश में लिए हुए है, तो दूसरी तरफ संचार साधनों और उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव को समाज महसूस कर रहा है। नारी, दलित, आदिवासी विमर्श अपने चरमोत्कर्ष पर है। बच्चों की अपनी लगत समस्याएं हैं। आतंकवाद और धार्मिक उन्माद समाज को कड़ी चुनौती दे रहा है। मानवीय मूल्यों में आ रही गिरावट भी चिंता का विषय है। पर्यावरण को बचाया आज के समय की गंभीर चुनौती है। पर्यावरण संरक्ष के प्रति पूरा विश्व चिंतित है, क्योंकि मानव जीवन की डोर इसके साथ बंधी हुई है। प्रकृति मानव जीवन का अभिन्न अंग है और प्रकृति के सुखद साहचर्य में ही मानव जीवन का विकास संभव है। प्रकृति और पर्यावरण के बगैर मानव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अगर पूरी मानवता पर्यावरण के पति संवेदनशील होने का प्रयत्न कर रही है तो हिंदी साहित्य औ विशेषकर हिंदी कविता इससे निर्लिप्त कैसे रह सकती है। हिंदी की समकालीन कविता में पर्यावरण के प्रति कवियों की संवेदनशीलता और पर्यावरण को बचाने की उनकी बेचैनी अवलोकित होती है। मौसम चक्र गड़बड़ाने को लेकर ओजोन पर्त में छेद होने के हादसे एवं उसके दुष्परिणाम से कवि चिंतित है। कवि शिशुपाल सिंह 'नहीं चाहिए मुझे एक और लातूर' शीर्षक कविता में प्रदूषण के रोक–थाम की वकालत करते हुए लिखते हैं –

फैल रहा है प्रदूषण, विकृति और विक्षोभ
यथा स्थिति से कहाँ मुक्ति
कब तक चलेगा यह निर्मम चक्र
नहीं चाहिए मुझे एक और लातूर।

आज का कवि इस कठिन समय को संभव करने के लिए तमाम औजारों का प्रयोग कर रहें हैं। इसमें एक साथ कई पीढ़ियां सक्रिय और सृजनरत हैं। सृतन में आवेग, छटपटाहट, बेचैनी के साथ जीवन्तता और ईमानदारी भी है। प्रतिबद्धता और अनिवार्यता उसका प्रधान गुण है। हेमंत कुकरेती लिखते हैं –

राख हो चुके होंगे कई चंद्रमा
आकाश के ध्वस्त दरवाजों को बार–बार छोड़कर जाते
हवा के पर्दों से गुमान होगा खिड़की पर बैठा है कोई
................जब यह मिलेगा
धरती के सारे सागर हो गए होंगे कीचड़
आसपास जहाँ तक मिट्टी होगी देखना लोगों को
डकडबाई होगी उनकी आवाज
बावले से फिरते होंगे मारे मारे।

पंजीवादी मानसिकता, वैश्वीकरण, बाजारवाद आदि ने प्रकृति के प्रति लोगों को उदासीन और असंवेदनशील बना दिया है। दिलीप कुमार तेतारवे लिखते हैं –

मेरी वसुधा, आज पहाड़ पर बसंत नहीं आया
या आया भी हो, तो पहाड़ बोल नहीं सकता।
वह गूंगा हो गया है
उसकी सगी नदियाँ
अब खिलखिलाती नही।
उसके प्राण स्वरूप झरने में
अब सुरताल नहीं।

रामदरश मिश्र इस त्रासदी को ज्यों बयान करते हैं –

उसने सोने चांदी के पहाड़ पर
बारूद के पेड़ लगाये हैं।
जिनकी विशाक्त साँसों से झुलस गयी हैं
वनस्पतियाँ
टूट गए हैं चिड़ियों के पंख।
तेजाब सा खलबला रहा है नदियों का पानी
जल गए मौसमों के रंग औश्र वे एक दूसरे में
सपा गए हैं
और आदमी एक प्यासा शेर बन कर रह गया है।

दूसरी ओर कवि गोविन्द कुमार गुंजन पर्यावर्णीय चेतना जगाते हुए लिखते हैः–

धरती का घूमना जारी रहेगा
होते रहेंगे दिवस मास
मौसम बदलते रहेंगे।

परमाणु विस्फोटों के बाद भी आयेंगी पूर्णिमाएँ औश्र समंदरों का सीना फूल जायेगा कामना से–

किसी खंडकर में बजेगी कोई वायलिन
और कोई भर जायेगा भावना से।

कहीं कवि पर्यावरण के कहर से क्षुब्ध है तो कहीं संभावना से परिपूर्ण है। वह आशावादी है, थकता नहीं, झूझता है। कवि प्रकृति से लेकर समकालीन जीवन यथार्थ के बृहद सवालों से गहरा साक्षात्कार करता है। समकालीन कविताएं अपने बचाव में कहीं बिम्ब और प्रतीक का सहारा लेती हैं, तो कहीं सहज और सपाट है जो अपने दृश्यों की रेखाएं खींच अपना अभिप्राय प्रकट करने का प्रयत्न करती हैं। अकाल, सूखा, भूकंप, अनावृष्टि, घटता जलस्तर आदि प्रकृति के प्रति हमारे अप्राकृतिक आचरण के परिणाम हैं। रेवती रमण की कविता 'पेड़ बोलता है' में पेड़ और मानव के बीच के रिश्ते प्रकट होते हैं –

हम होंगे, झरेंगे सभ्यता–संस्कृति के बीज
हम न होंगे, बच नहीं पायेंगे
बरसात, बसंत तुम और न यह जिन्दगी।

नगरवासियों और तथा कथित पढ़े–लिखे लोगों की अपेक्षा असभ्य, अशिक्षित और गंवार कहे जाने वाले आदिवासी प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा में पूर्ण तत्पर हैं। प्रकृति उनकी माँ है और प्रकृति ही उनका भगवान् है। प्रकृति की सुरक्षित गोद में ही वह अपने को महफूज समझते हैं और नगरों की उपभोक्तावादी दौड़ से अपने को कोसों दूर रखते हैं। सीमा आजाद अपनी कविता आदिवासी–1 में आदिवासियों के प्रकृति के प्रति स्नेहिल भाव को प्रकट करते हुए लिखती हैं–

पत्थर को
दूध पिलाते हो,
तुम
इस धती के
विकसित और सभी वासी हो
हम

इस धरती के

पिछड़े और आदिवासी हैं

पूरे पहाड़ को ही देवता मानते हैं

आदिवासियों से अधिक प्रकृति के निकट और कौन हो सकता है जो किसी भी लालच के अधीन होकर अपनी माँ से दूर नहीं होना चाहते और अपनी जान देकर भी प्रकृति और पर्यावरण को बचाने में जुटे रहते हैं। अपने आस–पास को बचाने के लिए वह किसी से भी टक्कर ले सकते हैं पर अपनी संगिनी और सहेली प्रकृति पर कोई आंच नहीं आने देना चाहते। अगर हम सब भी इन आदिवासियों से कुछ सीख ग्रहण कर औश्र अपने लालच को हराकर प्रकृति को बचाने में जुट जाएँ तो आने वाली नस्लों का भला हम कर सकते हैं। आदिवासियों की प्रकृति और अपने परिवेश के प्रति प्रतिबद्धता और उनके साहस को कलमबद्ध करती है सीमा आजाद की कविता आदिवासी–2

किसी भी हद तक जा सकते हैं हम

बचाने के लिए

अपने नदी पहाड़ धरती।

फिर भी

तुम बार–बार करते हो हमले

असफल होने पर

नयी चाल चलते हो,

नया नामकरण करते हो हमारा

'आदिवासी' से 'माओवादी'

जैसे कि इससे

हम 'हम' नहीं रह जायेंगे

जैसे ही

तुम्हारे हमले जायज हो जाएंगे

याद रखो

हम सबसे करीब हैं प्रकृति के

पाल–पोश कर इसने ही हमें बनाया है

जुझारू और लड़ाकू

नहीं बख्शती जैसे प्रकृति

अपने से छेड़–छाड़ करने वालों को,

वैसे ही हम भी

और

धरती को बचाने के लिए

धरती में मिल जाने की हद तक

हम जूझते हैं

लड़ते हैं।

राजेन्द्र उपाध्याय के कविता–संग्रह 'सिर्फ पेड़ ही नहीं कटते हैं' की कविताओं का सार यह है कि कटते हुए पेड़ों के साथ आदमी भी मरता है। औद्योगिक विस्तारवाद मानव सुलभ गुणों और मानवीय मूल्यों की हत्या कर रहा है। न केवल जंगलों का कटाव अपितु उत्खनन, महानगरीय मूल्यों की मलिनता का नदियों में उत्सर्जन, गैस रिसाव आदि हाअसे भी समकालीन कवियों को उद्वेलित करते रहते हैं। उनके माध्यम से नदियों की शिकायत हैं –

न जाने कब पड़ गयी हम पर सभ्य आदमी की

असभ्य नजर।

हमारी छाती पर खोल दिए इसने तेजाबी गटर।

कवि जय वैरागी की चिंता है कि शहरीगरण से उत्पन्न दुर्गन्ध की चपेट में आकर गांव वीराम और प्रदूषित हो गया है। स्वार्थ की सरसात में मिट्टी की उर्वरा शक्ति बह गई है –

नहीं खिलते पीले फूल सरसों के।
मेंड पर फैले स्वर्णिम आभाव
कट चुके अमलतास भी।

पर्यावरण का प्रदूषण सम्पूर्ण समाज को प्रदूषित कर रहा है। ओम प्रकाश महरा चिंतित भी हैं और उपाय भी बताते हैं –

गगनभेदी तोपें उगलती हैं जहरीले धुएं
आयें इन धूयों से हम अपने निर्मल आकाश को
गन्दला होने से बचाएँ

प्राकृति संतुलन के असुतुलन होने पर उसके परिणाम मानव समाज के लिए अत्यन्त भ्यावह होंगे। इन सम्बन्ध में कवि की चिंता द्रष्टव्य है –

न छोड़ो प्रकृति को
अन्यथा एक दिन मांगेगी हमसे, तुमसे
तरुणाई का एक एक क्षण और
करेगी भयंकर बगावत।

सुनामी लहरों की तबाही से हुए पर्यावरण के विनाश से दुखी सतीश जासवाल लिखते हैं –

समुद्र निकल आया वहां अभी–अभी
कहां चली गई यहां की इमारतें
किस देश से चले आये अचानक
इतने सारे जहाज उपक गए क्षितिज पर
सुबह–सबेरे जब लोग उठेंगे सोकर
हैरान होंगे अपने शहर को न पाकर।

कमलेश भट्ट 'कमल' ने पर्यावरण चेतना पर अनेक गीत लिखें हैं। उनके गजल संग्रह 'शंख, रेत, पानी' में वे नदी के क्षत–विक्षत स्वरूप पर दुखी होते हैं –

हमने विष पिलाकर आजमाया है बहुत
अब हमें भी विष पिलाकर आजमाएगी नदी।

अशोक अंजुम की व्यथा देखें –

आरी ने घायल किये हरियाली के पाँव,
कंक्रीट में दब गया वह होरी का गाँव।

मदन कश्यप अपने कविता–संग्रह 'लेकिन उदास है पृथ्वी' में लिखते है–

गनीमत है
कि सड़कें पैदल चलने का भाड़ा नहीं मांगतीं
हालाँकि शहर घरों में मुश्किल से आ पाती हैं
फिर भी धूप पर कोई टैक्स नहीं है।

चन्द्र शेखर साकल्ले लिखते हैं –

बस इतना पानी बचा देना
कि वह नहाकर धूप में अपने
बाल सुखा सके
बस इतनी लकड़ियाँ बचा देना
कि वो दो समय चूल्हा जलाकर
खाना पका सके
बस इतना अन्न बचा देना
कि वह अपने परिवार का
पेट भर सके
बस इतना कपास बचा देना
कि वह अपने बदन पर कपड़ा
लपेट सके
बस इतनी जमीन बचा देना
कि वह अपनी कथरी बिछा सके
शेष दुनिया तुम्हारी है
उसे लूटो और नष्ट कर दो।

पेट भर सके

बस।

समकालीन कविता में पर्यावरण चेतना के स्वर तो सुनायी पड़ते हैं मगर बहुत ही धीमे सुर में अभी इस समस्या को सतही तौर पर ही लिया जा रहा है मगर यह मामला बहुत ही गंभीर है और गंभीर चिंतन और बेबाक अभिव्यक्ति की मांग करता है। महानगर गैस के चैम्बर बन गए हैं और मनुष्य की लालची सोच, सीमित सोच और असंवेदनशीलता ने नयी पीढ़ी के लोगों को असमय ही बीमारियों के चंगुल में धकेल दिया है। जहरले वातावरण में रहकर जीवन कैसे सुरक्षित रह सकता है ? जब जीवन ही नहीं रहेगा तब जीवन और जीवन के विविध रंगों की बात करना मायने नहीं रखता। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि की बात तभी आगे बढ़ सकती है अगर हमारा जीवन सुरक्षित होगा और इसके लिए पर्यावरण को बचाना और समाज को अपने प्राकृतिक वातावरण को बचाने के लिए संवेदनशील बनाना साहित्यकारों का दायित्व है और विशेषकर समकालीन कवि महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। अतः आज की कविता आज के इस गंभीर मसले को कविता का मुख्य विषय बनाकर अपनी अहम् भूमिका निभा सकती है।

संदर्भ

- वागर्थ, नवम्बर 2003, दिसम्बर, 2016
- इन्द्रपरस्थ भारती, जनपद मार्च, 2004
- गंध, अगस्त, 1993
- अक्षरा, मार्च–अप्रैल, 1991
- युद्धरत आदमी, जुलाई–दिसम्बर, 1999
- अक्षर पर्व, अपैल, 2005
- नया ज्ञानोदय, अक्टूबर, 2016
- समकालीन भारतीय साहित्य, सितम्बर–अक्टूबर, 2000
- हंस मार्च, 2005
- रेत पर नंगे पांव, नन्द भारद्वाज
- 11. समकालीन के अथो में हिन्दी कविता–संपादक प्रो0 (डॉ0) सुखदेव सिंह मिन्हास,
  पृ.101
- 12. समकालीन हिन्दी कविता में पर्यावरण चेतना–प्रो0 सुख देव सिंह मिन्हास, पृ0 37
  से 44 तक

Copyright © 2015, Dr. R.P.Verma. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.